Research Paper E-ISSN NO : 2455-295X | VOLUME : 5 | ISSUE : 8 | AUGUST 2019

भारतीय औपनिवेशिक शासन की प्रशासनिक नीति

राजेश कुमार 'सुमन' [1]
[1] शोधार्थी, राजनीतिक विज्ञान, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

ABSTRACT:

KEYWORDS:

19वीं सदी की समाप्ति तथा 20वीं सदी के बहुत बाद तक ब्रिटिश सरकार का स्वरूप मूलतः निरंकुशवादी था। इसकी व्यवस्था सोपान रूप में व्यवस्थित अधिकारियों के हाथ में थी जिनके प्रमुख थे वायसराय एवं भारत सरकार के सचिव। इस व्यवस्था पर संसद का नियंत्रण अनियमित एवं सैद्धान्तिक ही था। 1858 के बाद जो बाते सामने आई, उसके परिणाम स्वरूप वायसराय एवं भारत सचिव की व्यक्तिगत भूमिकाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। ईस्ट इण्डिया कंपनी के मामले इंगलैण्ड में राजनीतिक एवं आर्थिक बहस के मुद्दे रहे थे और चार्टर अधिनियमों को पुनः लाये जाने पर संसद में काफी वाद–विवाद उठते रहे थे। 1858 के बाद तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि भारतीय वित्तीय वक्तव्यों, नैतिक और भौतिक प्रतिवेदन को पढ जाने के समय संसद का हाउस ऑफ कॉमंस खाली हो जाया करता था। अपने संरक्षण संबंधी कार्यो के कारण कोर्ट ऑफ स्टेनली डायरेक्टर्स अभी भी महत्त्वपूर्ण बना हुआ था किन्तु लॉर्ड स्टेनली के अधिनियम द्वारा स्थापित कॉउंसिल ऑफ इण्डिया, जिसका गठन भारत सचिव पर नियंत्रण रखने के लिए किया गया था, कभी भी अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं कर सकी। भारत में रेल और तार के आगमन से स्थानीय शासनतंत्र कलकत्ता से अधिक निकट संपर्क स्थापित कर सकते थे। जव कि इंलैण्ड का मानना है कि 1919 के पूर्व संघ के विचार का कोई संकेत ही नहीं मिलता। [1]

1861 के दि इण्डियन काउंसिल एक्ट ने भी कार्यकारिणी परिषद पर वायसराय की सत्ता को और सुदृढ़ किया और एक नियमित कार्य प्रणाली की जगह संपूर्ण विभाग की प्रणाली लागू की। उसी विधेयक द्वारा इम्पीरियल एवं स्थानीय विधायक समितियों का विस्तार अथवा गठन हुआ जिनमें कुछ के गैर–सरकारी भारतीय को भी सम्मिलित किया गया था।

1885 तक राजनितिक रूप से जागरूक भारतीय इस बात को निश्चित रूप से समझ चुके थे कि सभी वायसराय एक जैसे नहीं होते और लिटन एवं रिपन के बीच जमीन आसमान का अन्तर मानते थे। 1915 में इण्डियन नेशनल इवॉल्युशन का इतिहास लिखते समय नरमदलीय काँग्रेस के एक नेता अंबिकाचरण मजुमदार लिटन के शासन में घिरते हुए बादलों की एवं रिपन और डुरिन के शासनकाल में बादलों के छँट जाने एवं उषा का प्रकाश फैल जाने की बात करते है। हाल ही के एक अधिक परिष्कृत इतिहासकार ने भी 1869–80 के कंजर्वेटिव दुस्साहस की तुलना 1880–88 के सिवरल प्रयोग से की है। [2]

आलंकारिकता को छोड़ दे तो जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है वह 1880 के दशक के आरंभ में किया गया एक छोटा सा प्रयास जो टिकाऊ सिद्ध नहीं हुआ। यह प्रयास था भारतीय सहयोगियों के दायरे को राजाओं और जमींदारों से बढ़कर इसमें अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्गीय समूहों को सम्मिलित करना। इस मध्य वर्ग को लिटन ने यह कहकर खारिज कर दिया था कि ये बाबू है, जिन्हें हमीं ने शिक्षित किया है ताकि वे देशी अखवारों में अर्ध राजद्रोहपूर्ण लेख लिख सकें इसके विपरित रिपन का कहना था कि इस बात की आवश्यकता प्रतिपल बढ़ती जा रही है कि हम पढ़े–लिखें नेटिवों को अपने शासन का मित्र बनाएँ, शत्रु नहीं। [3]

1883 में इल्वर्ट विधेयक के प्रति एँग्लों इण्डियनों की अप्रत्याशित तीव्र प्रतिक्रिया के कारण यह प्रयोग शीघ्र ही समाप्त हो गया। दुरिन लैसडाउन एवं एल्गिन के कार्य कालों में भारत के प्रति टोरी एवं लिवरल दृष्टिकोणों का अंतर निरंतर धुंधलाता गया। डफरिन प्रभावहीन ढंग से सबको प्रसन्न करने का प्रयास कहता रहा जो उसके लिए सुकर नहीं था। खेतों के वाणिज्यिक दबाव में आकर उसने ऊपरी वर्मा का अधिग्रहण किया। बंगाल और अवध के कश्तकारी अधिनियमों में भू–स्थानियों को लाभ पहुँचाने वाले सुधार किए, थोड़े समय के लिए हयूम से मित्रता भी की किन्तु जाने के ठीक पूर्व सेंट एण्डयूज के भोज में कॉग्रेस की तीव्र आलोचना करते हुए भाषण भी दिया अंत में वह किसी को भी प्रसन्न नहीं कर पाया, जैसा कि निदशा चाचा ने दादा भाई नौरोजी को लिखे एक पत्र में कहा था। दिसंबर 1888 में दिनशा ने तो यहाँ तक कह दिया कि वे किसी को लिटन को बर्दास्त कर सकते है मगर किसी डफरिन को नहीं। [4]

रिपन के विरोध के बाद भी ग्लैडस्टोन ने 1882 में मिस्त्र में 1885–86 में मेहदी आंदोलन के विरूद्ध सूडान और 1990 में चीन में बॉक्सरों के विरूद्ध भारतीय सेना को तैनात किया। पंचदह युद्ध का हौआ दिखाकर भारतीय सेना में 30,000 सैनिकों की वृद्धि की गई। 1859 और 1879 के आयोगों ने इस बात पर बल दिया कि सेना में एक तिहाई गोरे हों और तोपखाने पर कड़ाई के साथ

सिर्फ यूदोथियों का अधिकार रहे। ऐसी नीति, जिसे सर जॉन स्ट्रेवो पूर्ण अलगाव की नीति कहते थे, अपनायी जाय ताकि जाति, धर्म, वर्ण या स्थानीय सहानुभूति के आधार पर किसी भी प्रकार की सामुदायिक भावना की खतरनाक अस्मिता को पनपने से रोका जा सके। [5]

वुड ने 1862 में 'फूट डालो राज करों' के सिद्धान्त का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया था ''मै विभिन्न रेजिमेन्टों में भिन्नता एवं प्रतिस्पर्द्धा की भावना विकसित करना चाहता हूँ, ताकि जरूरत पड़ने पर सिख हिन्दुओं और गोरखा सिखों तथा हिन्दुओं, दोनों पर हों विना झिझक गोली चला सकें। 1879 के सैन्य आयोग ने इस बात को पुनः दुहराया कि एक पर्याप्त यूरोपीय सेना के शानदार संतुलन के बाद देशी के विरूद्ध देशी का संतुलन आता है। [6]

भारतीय व्यय के बहुत बड़े भाग का भुगतान पाउण्ड मुद्रा में करना पड़ता था। रूपया जिसका मूल्य 1872 में 2 शिलिंग था 1893–94 तक एक शिलिंग 2 डाइम से थेड़ा ही अधिक का रह गया था। हाल ही में ब्रिटिश राज के वित्तीय आधारों की विस्तृत गवेषणा सव्यसाची भट्टाचार्य ने की है और कैम्ब्रिज इतिहासकारों ने ऐसी वित्तीय समस्याओं, सत्ता के हस्तातरण सहित प्रशासनिक दबावों एवं राष्ट्रीय आंदोलनों के बीच के संबंधों को स्पष्ट करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अनिल सील के शब्दों में स्थानीय मामलों में राज के और भारी हस्तक्षेप द्वारा प्रशासनिक व्यवस्था को अधिकदृढ़तापूर्वक दवाना आवश्यक था। [7]

वेयली के इलाहाबाद एवं वाशबुक के दक्षिण भारत संबंधी अध्ययनों में 1880 के दशक में मध्य में कराधान में होनेवाली इस आकस्मिक वृद्धि की भूमिका पर विशेष बल दिया गया है। इस कारण कॉंग्रेस को उसके मद्रास एवं इलाहाबाद कधिवेशनों में अप्रत्याशित रूप से व्यापक समर्थन मिला। वाशबुक प्रान्तीय स्तर पर दीर्घकालीन प्रवृत्तियों से संबंधित कुछ रोचक तथ्य भी प्रस्तुत करते है। 1880 में मद्रास में कुल राजस्व का 75 प्रतिशत भू–राजस्व से प्राप्त होता था जब कि 1920 में यह घटकर 28 प्रतिशत रह गया था। इसके विपरीत शराब से प्राप्त होनेवाला उत्पादन शुल्क 1882–83 में मिलनेवाले 60 लाख रूपये से बढ़कर 1920 में 5.4 करोड़ रूपये हो गया था। वनों से होनेवाली आय में भी वृद्धि हुई थी। 19वीं सदी में गुटुर में लोक प्रशासन से संबंधित अध्ययन में फ्राइकेनवर्ग ने बताया है। [8]

कि किस प्रकार कंपनी के अपेक्षा कृत ढ़ीले–ढ़ाले प्रशासन में मातहत भारतीय कर्मचारी स्वतंत्र थे और स्थानीय बड़े लोगों से संपर्क बनाए रखने के बाद वे आर्थिक लाभ भी प्राप्त करते थे। 1858 के बाद वित्तीय दवाबों के चलते जो परिस्थितियाँ बनी उसके फलस्वरूप इस स्वायत्तता में स्वाभाविक रूप से कमीं आई। मद्रास के सन्दर्भ में इस प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण वाशबुक ने किया है, किन्तु रोचक बात यह है कि इसे पूर्वी बंगाल के सिलहर क्षेत्र के सन्दर्भ में विपिन पाल ने प्रमाणित किया है। पाल के अनुसार किस प्रकार इन इलाकों में केन्द्रीकृत प्रशासन के अधिकारधिक पैठने के साथ हीं जमींदार रूपी स्वाभाविक नेताओं पर क्रमशः नियंत्रण बढ़ता गया। [9] इस प्रकार भारतीय औपनिवेशिक शासन की नीति तत्कालीन परिवेश में काफी महत्त्वपूर्ण थी।

REFERENCES

1. लार्ड स्टेनली – कॉस्टीच्युशनल प्रॉब्लम्स इन इण्डिया (पृष्ठ–465)

2. एस0 गोपाल – ब्रिटिश पॉलिसी इन इण्डिया (पृष्ठ–70)

3. अनिल सील – इमर्जेन्स ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म (पृष्ठ–134)

4. आर0 पी0 पटवर्द्धन – संपा0 दादाभाई नौरोजी, कॉरेस्पॉण्डेन्स–खंड–2 (पृष्ठ–137)

5. जॉन स्ट्रेवो – इण्डिया (पृष्ठ–63)

6. हीरालाल सिंह – प्रॉब्लम्स एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ द ब्रिटिश इण्डिया–1885–1889 (पृष्ठ–140)

7. सव्यसाची भट्टाचार्य – लोकेलिटी प्रॉविन्स एण्ड नेशन (पृष्ठ–10)

8. फ्राइकेनवर्ग – गुंटुर डिस्ट्रिक्ट 1788 से 1848–ऑक्सफोर्ड–1965

9. वाशबुक – मेमरीज ऑफ माई लाइफ एण्ड टाइम्स (पृष्ठ–16)